

અંગારા - દિતીરા

अध्याय - द्वितीय

मनु का राजनीतिक दर्शन : एक समग्र राजनैतिक व्यवस्था के रूप में

मनु का राजनीतिक दर्शन भारतीय परम्परा की शृंखला में एक कड़ी है। मनुस्मृति अत्यन्त उदात्त, सनातन, सार्वभौमिक एवं मानवतावादी धर्म ग्रन्थ है जिसमें राजधर्म (राजनीतिक-व्यवस्था) और राजधर्म से उपजने वाले संघर्षों के समाधान का अनुपम वर्णन है। प्राचीन काल से ही राज-व्यवस्था में जिस धर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा, उसे मनु ने विस्तृत परिधि देकर संचालित किया। राजनीतिक दर्शन की जो व्यापक, विशाल एवं सशक्त पृष्ठभूमि मनुस्मृति में दृष्टिगोचर होती है, वह दुर्लभ है।

संघर्ष की अवधारणा राजनीतिक अध्येताओं के मध्य विमर्श का मुख्य मुद्दा रहा है। राजनीतिक चिन्तन जब व्यक्ति पर केन्द्रित होता है तो वह प्रथम मानव संघर्ष पर विचार करता है। साथ ही व्यक्तियों एवं समूहों के मध्य के संघर्षों पर विचार करता है जिसके आधार पर वे समुदाय में एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। संघर्षों के कारणों की जब विवेचना का प्रयत्न किया जाता है तब इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि वे किस रूप में व्यक्त होते हैं, लेकिन विचार गंभीरतापूर्वक इस तथ्य पर होता है कि कैसे संघर्षों को नियंत्रित किया जा सकता है। पाश्चात्य राजनीतिक विश्लेषकों के लिये संघर्ष 'हिंसा' का प्रारूप है। जिसके समाधान के लिये वे परम्परागत संरचना में परिवर्तन पर बल देते हैं वही भारतीय राजनीति के पुरोधाओं में मनु संरचन एवं संस्था की जगह प्रथमतः मनुष्य में परिवर्तन, तत्पश्चात् संस्था की उस संरचना में परिवर्तन करते हैं जिसके द्वारा संघर्षों का समाधान हो सके।

मनु ऐसे प्रथम राजनीतिवेत्ता हैं जिन्होंने व्यक्ति, समाज व राज्य के प्रत्येक अंग को धर्म से जोड़ने का प्रयास किया। धर्म से जोड़ने का उनका उद्देश्य एक ऐसी जीवन पद्धति विकसित करना था जिससे व्यक्ति का राज्य के अन्य अंगों से परस्पर संघर्ष की जगह सौहार्द की स्थापना हो सके। मनुस्मृति जो कि मानव कल्याण का एकमात्र साधन है, उसमें मनु ने अपने राजनीतिक विचारों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के राजनीतिक संघर्षों के समाधान के मौलिक सिंद्धात को उद्भूत किया है। इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि "राजनीतिक संघर्षों का समाधान मनु के चिन्तन का प्राण है।" मनु ने अपने राजनीति संबंधी विचारों में - राजनैतिक समस्याओं पर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों से गहनता से विचार

किया और राज्य के उस कल्याणकारी स्वरूप को बहुत पहले ही व्यापक रूप से चित्रित कर दिया जिसकी कल्पना पाश्चात्य चिंतकों ने आधुनिक युग में की है।

मनु के राजनीतिक विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने पाश्चात्य विचारकों के समान ही नहीं बल्कि कुछ क्षेत्रों में उनसे भी बढ़कर राज्य और शासन की परमावश्यकता को स्वीकार किया। साथ ही अराजकता के दोषों की ओर ध्यान दिलाया, तथा राजनीतिक चेतना का श्रीगणेश किया। राजनीतिक क्षेत्र की प्रत्येक समस्याओं के समाधान का न केवल मार्ग दिखाया बल्कि उसे प्रशस्त भी किया। इसी कारण वर्तमान राजनीतिक चिन्तन का व्यापक क्षेत्र मनु का ऋणी है। इसी परिप्रेक्ष्य में मनु के राजनीतिक विचारों जैसे-राज्य, राजा, प्रजा के कर्तव्य, अधिकार, धर्म, व न्याय, प्राशासनिक व्यवस्था का स्वरूप, राज्य का लक्ष्य इन सबसे बढ़कर लोक कल्याणकारी राजतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था एवं ग्राम शासन के आधार पर स्थापित विकेन्द्रित व्यवस्था से संबंधित मान्यताओं का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है जिसमें उन्होंने राजनीतिक संघर्षों के समाधान का बीजारोपण किया।

राज्य -

सामाजिक संस्थाओं में सर्वाधिक व्याप्त एवं सशक्त संगठन के रूप में प्रचलित राज्य एक मानवीय संस्था है। अपनी आन्तरिक एवं वाह्य सुरक्षा हेतु राजनीतिक, जीविका निर्वाहार्थ आर्थिक तथा भावनात्मक तुष्टि के रूप लिये धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्वाभाविक संस्था परिवार से परे विस्तृत दायरे में जिस सामाजिक परिक्षेत्र की मानव समुदाय ने कल्पना किया वह संस्था ही 'राज्य' है। दूसरे शब्दों में, "सुख, शान्ति, समृद्धि तथा मानव के सर्वोन्मुखी विकास के लिये उत्तरदायी राजनीतिक संगठन युक्त समाज ही राज्य है।"

एक ही लातीनी शब्द "Status" (जिसका भावार्थ पद अथवा स्थिति है) दोनों शब्द "Status"(राज्यक) तथा "Status" (राज्य) का जन्मदाता है। यूनानी शब्दावली में इसे 'पोलिस' जबकि रोमनों ने इसे 'सिविटस' की संज्ञा दी, परन्तु सब में राज्य के अर्थ का आभास इसी रूप में हुआ कि यह भौगोलिक दृष्टि से परिसीमित मानव समाज का ऐसा भूखण्ड है जो एक निश्चित संप्रभु की आज्ञाकारिता के लिये संगठित हुआ जबकि इकाई के रूप में राज्य का सर्वप्रथम प्रयोग मैकियावली ने किया।

राजनीतिक विज्ञान की वर्णमाला में राज्य की अवधारणा आधुनिक युग में 16 वीं सदी में आयी। 1904ई0 में राजनीति विज्ञान को ऐसा विज्ञान बनाया गया जिसका संबंध राज्य नामक संगठन से है परन्तु अपने मानक अर्थ में राज्य की अवधारणा अरस्तु

जितनी पुरानी है अर्थात् राज्य प्रकृति की देन है। फलतः वह आवश्यक एवं सर्वोच्च है। अरस्तु के लिये राज्य मानवीय आवश्यकतों की पूर्ति का माध्यम है अर्थात् राज्य व्यक्ति से पूर्व की संस्था है¹ तो गार्नर के लिये राज्य “कम या अधिक संख्या में एक निश्चित भू-भाग पर बसे हुए व्यक्तियों का ऐसा समुदाय है जो बाह्य नियंत्रण से पूर्णतः मुक्त अथवा लगभग स्वतंत्र होता है। जिसमें ऐसा संगठन होता है जिसके आदेशों का पालन वहाँ के निवासियों का वर्ग स्वतः करता है”² वही ब्लूशली के लिये राज्य निश्चित क्षेत्र में राजनीतिक संगठन है³ तो वर्गेश राज्य को ‘संगठित इकाई के रूप में मानव जाति का एक विशिष्ट भाग’ मानते हैं।⁴ जबकि बेथम राज्य की इन परिभाषाओं से भिन्न रूप देते हुए लिखते हैं कि ‘जब बहुसंख्यक प्रजा यह मान लेती है कि वे एक ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के प्रति आज्ञाकारी हैं जिसका पद, मर्यादा आदि निश्चित है तो वे सब मिलाकर राज्य कहलाते हैं।’⁵

स्पष्ट है कि राज्य एक ऐसा समुदाय है जो अधिकारों की सामान्य भावना एवं लोगों के पारस्परिक सहयोग द्वारा संयुक्त है। व्यक्तियों द्वारा निर्मित सबसे शक्तिशाली शासन करने वाली संस्था राज्य है।⁶ इसे ही दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए लास्की कहते हैं कि “राज्य किसी भू-भाग में सत्ता और प्रजा में विभक्त ऐसा सामाजिक संगठन है जो उस निश्चित भू-भाग को अन्य सभी संस्थाओं में सर्वोच्च मानती है”।⁷

स्पष्टतः आधुनिक पाश्चात्य विद्वान राज्य की परिभाषा देते हुए अनेक तत्वों का विश्लेषण करते हैं। इसमें मुख्यतः जनसंख्या, भू-भाग, संप्रभुता एवं सरकार पर प्रायः सभी एकमत हैं परन्तु इसके साथ ही यह तत्व भी उद्घृत होता है कि पाश्चात्य आधुनिक राज्य की परिभाषा राज्य-राष्ट्र, केन्द्रीभूत राजशक्ति, सम्प्रभुता एवं साम्राज्यवाद के सन्दर्भ में की जाती है। वर्तमान की व्यवहारवादी राजनीति इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करती है। अतः व्यक्ति, समाज व राज्य के सभी तरह के संबंधों को अभिव्यक्त करने हेतु राज्य के ये चारों तत्व अपर्याप्त नजर आते हैं। इसके पीछे मुख्य कारण विज्ञान एवं प्राविधिक विकास,

- 1- Aristotle : Politics, (Barkar Trans) P.118
- 2- J.W. Garner : Political Science and Government, Culcutta, 1951, P. 49
- 3- J.K. Bluntshli : Theory of State, oxford, 1985, P. 23
- 4- J.W. Briggess : Political Science and comparative constitutional Law. London, 1980, Vol I, P 51
- 5- J.A. Bentham : Fragment of Government, London, 1931, P. 137
- 6- W.W. Willoughby : The Nature of State, London, 1922, P. 192
- 7- H.J. Laski : A Grammar of Political Theory, London, 1950, P. 21

राजनीतिक शक्ति के विस्तार एवं आर्थिक शक्तियों की प्राथमिकता मानी जा सकती है। इस अर्थ में पाश्चात्य चिंतकों का राज्य व्यक्ति के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संबंधों को स्पष्ट करने के लिये ये तत्व पूर्ण नहीं हैं। इस सन्दर्भ में भारतीय राज्य की विशेषतः व्यक्ति, समाज व राज्य की पूर्णता एवं सह-सम्बन्धों के लिये मनु की राज्य की अवधारणा का आद्योपान्त विवेचन महत्वपूर्ण हो जाता है।

भारतीय परम्परा में राज्य को न तो आवश्यक बुराई माना गया ही न ही साध्य। यह नहीं माना गया कि राज्य वर्गाधिपत्य की कार्य समिति हैं साथ ही न तो यह माना गया है कि व्यक्ति एवं समाज के हित में राज्य को तुरन्त समाप्त कर देना चाहिए। प्राचीन भारतीय मान्यताओं के अनुसार राज्य व्यक्ति एवं समाज के हित में साधन है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राज्य की जिस परिभाषा को भारतीय परम्परा परिभाषित करती है उसमें न केवल आधुनिक राज्य के सभी तत्वों का समावेश है बल्कि इससे बढ़कर नये तत्वों का अविर्भाव हो जाता है, जो वर्तमान के राज्य से उपजने वाले संघर्षों का समाधान तत्व बन जाता है। पी.वी. काणे इसी रूप में कहते हैं कि “राज्य के लिये जनसमूह का भौगोलिक सीमा के भीतर रहना, एक सुव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्था का अस्तित्व, राज्य के लिये पर्याप्त बल एवं सेना का होना एवं अन्तर-राष्ट्रीय मैत्री का होना अनिवार्य है”।¹ वही नरेन्द्र ला के लिये राज्य मोक्ष का साधन है जिसके बिना व्यक्ति की सुरक्षा एवं धार्मिक प्रगति असंभव है² जबकि अल्टेकर के लिये राज्य परलौकिक न होकर लौकिक है जिसके बिना सम्पूर्ण जीवन का संरक्षण एवं पुरुषार्थ साधन नहीं हो सकता है।³ जायसवाल के विचार में राज्य ‘प्रजा में शान्ति बनाये रखने एवं उसे सुसम्पन्न करने का साधन है’⁴ तो पानिकर राज्य को सम्पूर्ण मानव जीवन की समृद्धिकारी संस्था के रूप में विश्लेषित करते हैं।⁵

पाश्चात्य चिन्तन एवं प्राचीन भारतीय चिन्तन में राज्य की अवधारणा पर तुलनात्मक विचार किया जाए तो स्पष्ट होगा कि पाश्चात्य चिन्तक राज्य की प्रकृति, उत्पत्ति, उद्देश्य आदि भी भिन्न-भिन्न धारा की ओर उन्मुख हुए। व्यक्तिवादी, उदारवादी, आदर्शवादी एवं मार्क्सवादी विचारधाराओं में राज्य को अपने-अपने ढंग से निरूपित किया गया है। मूल

1- पी.वी.कार्ण : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग -2, लखनऊ, 1964, पृ0- 586

2- M.N. Law : Aspects of Ancient Indian Polity, Calcutta, 1960, P-1

3- अ.स. अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, इलाहाबाद, 1983, पृ. 41-43

4- के.पी. जायसवाल : हिन्दू राजतंत्र, द्वितीय भाग, वाराणसी, संवत् 2034, छत्तीसवां प्रकरण, पृ0 378

5- K.M. Panikkar : The Ideas of Sovereignty and state in Indian Political Thought, Bombay, 1963, P.6

तथ्य यह है कि कुछ चिन्तक राज्य को अनिवार्य बुराई मानते हैं। कुछ ने इसे वर्गाधिपत्य की कार्य-समिति कहकर मनुष्यों द्वारा निजी स्वार्थों की पूर्ति हेतु उसकी उत्पत्ति पर बल दिया। अनेक चिन्तक राज्य को व्यक्ति के नैसर्गिक शक्ति के विकास हेतु अनिवार्य मानते हुए कालक्रमानुसार उदित होकर मानव के साथ ही विकसित होते स्वीकार किया वहीं अधिकांश भारतीय चिन्तकों एवं मनीषियों ने राज्य को पूर्णतः दैवी देन माना व राजा को देवदूत। कुछ मनीषियों ने परस्पर अनुबंधित होकर मानव जाति के उत्थान हेतु राज्य के अभीष्ट को स्वीकार किया जिसमें मनु का स्थान सर्वोपरि है।

मनुस्मृति में राज्य के लिये 'राष्ट्र' तथा 'राज्य' शब्दों का प्रयोग मिलता है।¹ मनु द्वारा राष्ट्र शब्द का प्रयोग राज्य के पर्यायवाची के रूप में किया गया है परन्तु अधिकांशतः मनु के 'देश' शब्द का तात्पर्य 'राज्य' नहीं अपितु स्थान विशेष या क्षेत्र विशेष से सम्बद्ध जान पड़ता है।²

मनु ने राज्य की उत्पत्ति के लिये उस समय में विद्यमान उन संघर्षों को कारण माना जो समाज को पतनोन्मुख करता जा रहा था। यही मूल कारण है कि मनु राज्य के उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के प्रबल समर्थक के रूप में माने जाते हैं। वैसे तो राज्योत्पत्ति संबंधी दैवीय सिद्धान्तों की प्राचीन भारतीय ग्रंथों में शुरूआत वैदिक साहित्य से ही हो जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य की उत्पत्ति का कारण धर्म व अधर्म के बीच हुए लम्बे संघर्ष का परिणाम है।³ वहीं अथर्ववेद में राजा के लिये प्रार्थना पाते हैं⁴ अन्य संहिताओं में भी इसका उल्लेख स्पष्ट किया गया है।⁵ ये वर्णित तथ्य वैदिक काल में राजत्व का दैवी रूप

1- मनु०, 7/29 ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सच्चराचरम् ।

अन्तरिक्षगतांच्छैव मुनीन्द्रवांच्छ पीडयेत् ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याभृशदण्डच्छ शत्रुषु ।

सुहृत्स्वजित्मः स्त्रिग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ मनु० 7/32

2- मनु० 2/19 कुरुक्षेत्रं च गत्स्याच्छ पञ्चालाः शूरसेनकाः ।

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।

प्रत्यगेव प्रयागाच्छ्र मध्यदेशः प्रकीर्तिः ॥ मनु० 2/21

3- ऐतरेय ब्राह्मण, 1/14

4- अथर्ववेद, 6, 87-88

5- ऋ०सं० : X. 173, सतपथ ब्राह्मण 11,6/3/8

ऐतरेय ब्राह्मण VII ,17, VIII 13; 14& 19

प्रकट करते हैं परन्तु एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि राजा और ईश्वर की समानता उनके क्रिया-कलापों में समानता के कारण थी।

उत्तर-वैदिक साहित्य भी राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को पुष्ट करता है। इसका पहला रूप महाभारत के शान्ति पर्व में देखने को मिलता है।¹ इसी पर्व के 67 वें अध्याय में मात्स्य न्याय को समाप्त करने हेतु मनुष्यों के लिये ब्रह्मा द्वारा मनु को राजा बनाये जाने का उल्लेख है।²

इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त पर विचार प्रकट करते हुए मनु ने उस अराजक दशा का वर्णन किया है जिसमें राजा का अस्तित्व नहीं था। मनु का विचार है कि एक समय था जब लोग बिना राजा के रहते थे और भय से आक्रान्त रहते थे अर्थात् चारों ओर भय व्याप्त था। अस्तु राजा के न होने पर बलवानों के डर से प्रजा के चराचर की रक्षा हेतु ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, वरुण, चन्द्र और कुबेर का सारभूत नित्यांश लेकर राजा का निर्माण किया। इन गुणों से राजा तेजस्वी व सर्वोच्च बन गया।³ निम्नलिखित उद्वरण में मनु स्वयं अपने अर्थ का विश्लेषण करते हुए राजा की दैवीय शक्ति का मान करते हैं। “धर्म की उचित रक्षा हेतु सावधानी पूर्वक अपनी शक्ति और उद्देश्य को परखकर और स्थान एवं समय की परिस्थितियों पर विचार कर राजा बारंबार कई रूप लेता है।”⁴ मेधातिथि ने भी ‘प्रभु’ शब्द का तात्पर्य प्रजापति से लेकर दैवी सिद्धान्त का समर्थन किया है।⁵ मनु की इस धारणा का विवेचन करते हुए यू.एन.घोषाल⁶ कहते हैं कि सुरक्षा की दृष्टि से ईश्वर ने चन्द्र, सूर्य,

1- महा० शान्ति पर्व :“रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्दते।” 59/125-129.

2- वहीं, : 67/15

3- मनु० :

अराजके हि लोकेऽस्मिन्स्वर्तो विद्वुते भयात् ।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजतप्रभुः ॥ मनु० 7/3

इन्द्रानिलयमार्काणामानेच्छ्र वरुणस्य च ।

चन्द्रवित्तेशयोच्छ्रैव मात्रा निर्हत्य शाश्वतीः ॥ मनु० 7/4

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ मनु० 7/8

4- मनु० : कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्ति च देशकालौ च तत्त्वतः ।

कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थे विश्वरूपं पुन पुनः ॥ मनु० 7/10

5- मेधातिथि मनु० :

विद्वुते पीडिते प्रतिष्ठिते वा प्रभुप्रजापतिः । मनु० 7/3

6- U.N. Ghoshal, : A History of Indian Political Ideas, Bombay, 1966, P.P. 29

इन्द्र, विष्णु, कुबेर और यम के कुछ अंशों यथा - सुन्दरता, ओज, वीरता, विजय, त्याग और नियत्रण का गुण लेकर मनुष्य रूप में राजा का निर्माण किया।

स्पष्ट है कि राज्योत्पत्ति संबंधी मनु का विचार दैवी है। तथापि अपने सभी पूर्ववर्तियों के दैवी विचारों से सर्वाधिक उन्नत व तार्किक है। इसके मुख्य कारण के रूप में संविदा सिद्धान्त के कुछ तत्वों का समावेश माना जा सकता है। अनुबंध की धारणा इस उद्धरण से है कि राजा की उत्पत्ति बलवानों के डर से प्रजा के इधर-उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिये हुई।

परन्तु मनु की धारणा पूर्णरूपेण दैवीय तत्वों से मुक्त नहीं है क्योंकि राजा (राज्य) की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा की गयी है। मनुस्मृति में वर्णित राज्योत्पत्ति संबंधी दैवी सिद्धान्त के विवेचन के उपरान्त तीन तथ्य प्रकट होते हैं : प्रथम, राजत्व का निर्माण अराजकता से रक्षा के लिये तथा दैवी-शक्तियों द्वारा जन-भलाई को बढ़ावा देने के लिये किया गया। यही दैवी सिद्धान्त का मूल विचार है। द्वितीय, राज्य के दैवी स्वरूप का समर्थन प्रजा की विश्वासपात्रता को बनाये रखने के लिये किया गया। तृतीय, राजा के पद और उसके कार्य दैवी हैं।

“अस्तु, मनु का दैवी राज्य जनकल्याण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथा अति संवेदनशील है। इस रूप में मनु अपने सभी पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती दैवी विचारकों से श्रेष्ठ ठहरते हैं।”

राज्य उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त पर ही मनु ठहरते नहीं, बल्कि आधुनिक राज-वैज्ञानिकों की भाँति उन्होंने राज्य के ‘सप्तांग सिद्धान्त’ का प्रतिपादन किया। राज्य के ये सात अंग-स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड तथा मित्र हैं।¹ राज्य के सावयव स्वरूप का समर्थन कौटिल्य भी करते हैं।² साथ ही इसका वर्णन अनेक ग्रन्थों में देखने को मिलता है।³ अपने सावयव सिद्धान्त में मनु ने ‘मित्र’ को ‘प्रकृति’ शब्द से संबोधित किया है। इन्होंने प्रकृति का भाव मध्यम, विर्भगीषु, उदासीन और शत्रु को राज्य की प्रकृतियां कहा है।⁴ परन्तु मनु के

1- मनु09/294, स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सहत्तथा।

सप्त प्रकृतयो व्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥

2- कौ0,6/1/1, स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृत्यः ।

3- शां0 पर्व 69/62-63ए

विष्णु धर्मसूत्र 3/33, वृहस्पति0 1/23, याज्ञ0 1/353, शुक्र0 1/61

4- मनु0 मनु0 7/155

प्रमुख टीकाकार मेघातिथि ने प्रकृति को दो अर्थों-कारण तथा स्वभाव के रूप में व्यक्त किया है।

मनु अपने राज्य के स्वरूप के इस सिद्धान्त पर कौटिल्य से समानता रखते हैं। राज्य के सावयव स्वरूप के अन्तर्गत राज्य को उसके अन्य सभी अंगों के साथ अन्योन्याश्रित संबंध पर पूरा जोर दिया जाता है। अनेक चिंतकों ने इसे आंगिक सिद्धान्त के रूप में भी वर्णित किया है। राज्य के इस स्वरूप का वर्णन प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिंतकों के द्वारा भी किया गया है। प्लेटों ने राज्य की तुलना एक विशालकाय मनुष्य से की गयी है और राज्य के शासक, योद्धाओं तथा साधारण काम करने वाले व्यक्तियों को उसने मनुष्य की बुद्धि, साहस तथा इच्छा अथवा आवश्यकता का प्रतीक माना है।¹ अरस्तु ने भी राज्य के आंगिक स्वरूप की चर्चा की है। इसी आधार पर वे राज्य को समुदायों का समुदाय मानते हैं।² सिसरा ने भी इसी प्रकार राज्य तथा शरीर की तुलना की है और राज्य के शासक को मनुष्य की आत्मा के समान माना है जो राज्य में उसी प्रकार शासन करता है जिस प्रकार आत्मा शरीर में रहकर शासन करती है।³ हाब्स ने राज्य को एक काल्पनिक महामानव 'लेवियाथन' के समान माना तथा राज्य की प्रमुखता की मनुष्य की आत्मा के साथ समानता प्रतिपादित किया और कहा कि 'राज्य शरीर में भी प्राणी शरीर की तरह अनेक रोग (जलान्धर, फोड़े) आदि होते हैं।'⁴ रूसो ने राजकीय शरीर की तुलना मानव-शरीर से की और कहा है कि दोनों की ही एक-दूसरे की तरह शक्ति तथा इच्छा होती है। राज्य की व्यवस्थापन संबंधी शक्ति को उसने राज्य का हृदय तथा कार्यपालिका शक्ति को ही उसका मस्तिष्क माना।⁵ इसी प्रकार हीगल, हर्बट, स्पेन्सर आदि ने भी राज्य के सावयव सिद्धान्त का दर्शन दिया, परन्तु राज्य के जिस स्वरूप का चित्रण पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों ने किया है, वह मुख्य रूप से राज्य एवं मानव-शरीर के बीच तादात्म्य स्थापित कर विश्लेषित करता है।

वहीं प्राचीन भारतीय चिन्तकों के राज्य का स्वरूप पाश्चात्य धारणा से भिन्न है क्योंकि आधुनिक राज्य के चार घटक सम्प्रभुता, सरकार, क्षेत्र, जनसंख्या, सप्तांग राज्य के क्रमशः 'स्वामी', 'आमात्य' और 'जनपद' के अन्तर्गत आ जाते हैं अर्थात् सम्प्रभुता का 'स्वामी', सरकार का 'आमात्य' और क्षेत्र एवं जनसंख्या का 'जनपद' में समावेश हो जाता

1- बृजकिशोर झा, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, भाग-1, बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1992, पृ०-73

2- Ibid -

3- Ibid -

4- हाब्स, लेवियाथन VIII, (भूमिका)

5- रूसो : सोशल कॉन्ट्रैक्ट : बुक III अध्याय I और II

है परन्तु आधुनिक राज्य का एक और घटक मान्यता हो सकता है जिसे साप्तांग राज्य के मित्र से तुलना की जा सकती है यद्यपि प्राचीन काल में न तो मान्यता का आधुनिक रूप था और न ही मित्र राष्ट्रों का यह कार्य ही। आधुनिक राज्य की परिभाषा में सेना, कराधान, राजधानी और मित्र का कहीं स्थान नहीं है। सेना और कराधान का समावेश शायद प्रभुसत्ता में हो जाता है, क्योंकि बल प्रयोग एवं कर-संग्रह के अधिकार उस सत्ता में सहज समाहित है। स्पष्ट है कि राज्य की मनु की परिभाषा अधिक स्पष्ट, आसान तथा ज्यादा ही सही माना जा सकता है।

मनु अपने सावयव सिद्धान्त में सातों अंगों में अगले के व्यसन की अपेक्षा पिछले के व्यसन को अधिक संकट माना है।¹ अर्थात् मनु ने पूर्वोलिखित अंगों को बाद में उल्लेखित अंगों की अपेक्षा अधिक महत्व की दृष्टि से देखा हैं।

राज्य के कार्य व उद्देश्य -

मनु का मानना है कि राजा विहीन राज्य में समाज की अस्थिरता एवं मानव उत्पीड़न का ही राज्य की सृष्टि का मूल कारण कहा हैं। अतः मनु व्यक्ति तथा समाज के समुचित विकास को दृष्टि में रखकर राज्य के कार्यों व उद्देश्य को रेखांकित करते हैं।

राजनीतिक चिन्तकों द्वारा राज्य के सम्पूर्ण कार्यों को प्रायः दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। प्रथम, अनिवार्य (आवश्यक) द्वितीय, ऐच्छिक (लोकहितकारी)। पहली श्रेणी में वे सभी कार्य आते हैं जो समाज के संगठन के लिये नितान्त आवश्यक हैं जिसमें बाहरी शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा, प्रजा के जानमाल का संरक्षण, शान्ति सुव्यवस्था और न्याय प्रबन्ध। दूसरी श्रेणी में लोकहित के विविध कार्यों के अन्तर्गत - शिक्षा, दान, स्वास्थ्य, रक्षा, व्यवसाय, डाक व यातायात का प्रबन्ध, जंगल व खानों का विकास, दीन-अनाथों की देखरेख आदि कार्य सम्मिलित होते हैं। वर्तमान युग के 'लोक-कल्याणकारी राज्य' की कल्पना में भी इन्हीं लोकहितकारी कार्यों को शामिल किया जाता है और इनमें तेजी से वृद्धि भी रही है।

प्राचीन भारतीय राज्यों की जानकारी देने वाले स्रोतों से यही स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में राज्य केवल आवश्यक कार्यों से ही ज्यादा मतलब रखा जाता रहा। वैदिक काल में राज्य जैसी संस्था के ऊपर बाहरी शत्रु के प्रतिकार करने और आन्तरिक व्यवस्था एवं समाज परम्परा की रक्षा तक ही कार्यों का जिक्र आता है, परन्तु बाद में जैसे- जैसे सामाजिक जटिलताएं बढ़ती गयी, राज्य के कार्य भी बढ़ते चले गये।

राज्य के आवश्यक कार्यों के अन्तर्गत मनुस्मृति में राज्य के आंतरिक व बाह्य

1- मनु० 9/295, सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।

सुरक्षा, सामाजिक नियमितता बनाये रखने के लिये न्याय तथा नागरिकों के अधिकारों की गणना की गयी है जबकि ऐच्छिक कार्यों के अन्तर्गत नागरिकों की शिक्षा-दीक्षा, मनोरंजन, सार्वजनिक वस्तुओं का निर्माण व उनकी देखरेख आते हैं जिन्हें राज्य मानव जीवन की सुख-सुविधा के लिये क्रियान्वित करता है। इस प्रकार मनु ने राज्य के कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत प्रजा के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी क्रियाकलाप आ जाते हैं जिनके समुचित निवर्तन से प्रजा का जीवन सुखी, विकासात्मक व संतुष्ट हो सके।

वर्णाश्रम व्यवस्था -

आचार्य मनु ने राज्य के सर्वप्रथम कार्य के रूप में वर्णाश्रम धर्म को बनाए रखना बताया है।¹ वस्तुतः मोक्ष प्राप्ति के लिए मनु ने जनता को स्वधर्म का पालन करने हेतु राज्य द्वारा प्रयास किये जाने पर बल दिया साथ ही मनु ने राज्य के कार्य-क्षेत्र के संबंध में मुख्य रूप से वर्णों के स्वधर्म और सामान्य कानूनों के अनुपालन पर जोर दिया है।

प्रजा की रक्षा -

प्रजा की रक्षा करना मनु के राज्य का प्रमुख कार्य है। इसके अन्तर्गत निवासियों के जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा के साथ राज्य की सुरक्षा शामिल है। मनु ने राज्य के प्रजा-रक्षण के कार्य की विवेचना करते हुए कहा है कि देश, काल, शक्ति और शास्त्र को भली-भाँति देख-भाल कर राज्य को चाहिए कि अन्याय करने वाले नरों को यथायोग्य दण्ड दें।²

प्रजा का हित राज्य का हित -

मनु प्रजा के हित साधना राज्य को अन्य प्रमुख कार्य माना है। कौटिल्य ने भी मनु का अनुसरण किया है - इनके अनुसार, प्रजा के सुख में ही राजा (राज्य) का सुख है। उसके कल्याण में ही राज्य का कल्याण है। जो कुछ राजा को स्वयं आनन्ददायक लगे उसे अच्छा नहीं सोचना चाहिए परन्तु जो कुछ उसकी प्रजा को आनन्द दे, उसे ही राजा को अच्छा सोचना चाहिए।³ मनु ने भी राज्य के इसी प्रजा हितकारी रूप की सराहना की है। जिसमें प्रजा

1- मनु०7/35, स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वे षामनुपूर्वशः ।

वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥

2- मनु०7/16, तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।

यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥

3- कौ० अर्थ०1/19/34, प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।

नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥

के सुख के लिये राजा को अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन करने पर जोर दिया गया है।

आर्थिक सम्पन्नता में वृद्धि करना -

राज्य की सम्पन्नता एवं सार्थकता उसके आर्थिक जीवन की सुव्यवस्था पर अवलम्बित है। अतः इस रूप में राज्य का कार्य आर्थिक दशा में सुधारना माना गया। कौटिल्य ने व्यापार को एक उपकारी विधा बताया है और कोष एवं सेना का आधार व्यापारिक स्थिति माना है। महाभारत में संकट-ग्रस्त व्यापारिक स्थिति वाले राज्य की निन्दा की गयी है। मनुस्मृति में खेती की रक्षा हेतु आवश्यक कार्यों का विस्तृत उल्लेख है। मनु ने राज्य के कार्य की सीमा की व्यवस्था करना एवं कृषकों को धन, पशु, धान्य आदि से सहायता देना बताया है।

मनुस्मृति में आर्थिक दृष्टि से राजा के कार्यों की व्याख्या की गयी है। नैतिकता एवं ईमानदारी से व्यापार के संचालन की व्यवस्था राज्य को करने का परामर्श है और कहा गया है कि तुलनात्मक प्रतिमान और तराजू को राज्य (राजा) अच्छी तरह जांचे तथा प्रति छः मास पर उसकी जांच करता रहे।¹ मनु के अनुसार राज्य को नाबालिग एवं अनाथ लोगों के धन की तब तक रक्षा करनी चाहिए जब तक उसका समावर्तन संस्कार न हो जाए या उसकी अवस्था 16 वर्ष की न हो जाए।² इसी प्रकार बन्ध्या-पुत्र या कुल से हीन पतिव्रता विधवा और रोगिणी स्त्रियों की सम्पत्ति की रक्षा राज्य को करना चाहिये।³

यहाँ पर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त कार्यों के संचालन के लिये राज्य को दण्ड का आश्रय लेना पड़ता था। मनु का स्पष्ट मत था कि दण्ड-भय से ही लोग राज्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तथा राज्य द्वारा निर्दिष्ट कार्यों का संपादन करते हैं। दण्ड की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए मनु ने दण्ड को ही राजा, नेता और प्रशासक माना।⁴ मेघातिथि ने भी लिखा है “दण्ड से आशंकित होकर ही पर्जन्य वायु आदि वृद्धि करते हैं तथा देवता व अचेतन तक सर्वथा सब मर्यादा से विचलित नहीं होते। इसी प्रकार मनु के दण्ड का राजनैतिक आधार ‘संघर्ष समाधान’ का मूल है।”

1- मनु०8/403, तुलामानं प्रतीमानं संर्व च स्यात्सुलक्षितम् ।

षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥

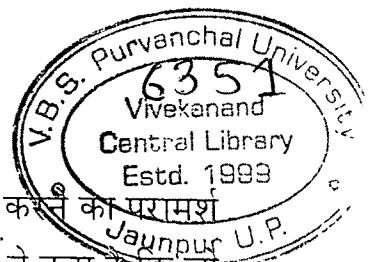
2- मनु०8/27, बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।

यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥

3- मनु०8/28, वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।

पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥

4- मनु० : 7/17-18



मनु ने राज्य के कार्यों का निष्पादन दण्ड के आधार पर कर्त्ता का परामर्श दिया है। दण्ड के रूप में राज्य की शक्ति को लिया जा सकता है। मनु ने कहा है कि राजा अपनी प्रजा का उचित रूप से रक्षा करता है वह कर के रूप में पुण्य (उपज आदि) का छठाँ भाग पाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो प्रजा के पार्थों का छठाँ भाग पाता है। अतः राज्य का आवश्यक कार्य है कि वह सेवा के बदले उचित कर ले।¹ मनु ने राज्य के कार्य के रूप में कराधान की प्रक्रिया, कर का प्रतिशत प्रत्येक वस्तु के साथ तथा कर देने से मना करने वाले को दण्ड देने की पूरी व्यवस्था का विवेचन किया है।²

मनु के राज्य के कार्यों को देखकर एक लोककल्याणकारी राज्य की छवि का आभास होता है। घोषाल³, सेलेटोर⁴ तथा सरकार⁵ जैसे अनेक विद्वानों ने माना है कि मनु के राज्य का कार्य-क्षेत्र असीम एवं जीवन के समकालीन था। मानव जीवन का कोई भाग ऐसा नहीं था जो इसके हस्तक्षेप से अक्षुण्ण हो। मनु के राज्य के कार्यों को और स्पष्ट रेखांकित करें तो स्पष्ट होगा कि इनका राज्य एक लोक-कल्याणकारी राज्य है। इस रूप में यह आधुनिक प्रजातांत्रिक-समाजवादी राज्य से कुछ अंशों में तुलनीय है।

राज्य के उद्देश्य का विवेचन जो मनु ने किया वह दोनों अतियों से बचाने वाला और पूर्णतया व्यवहारिक माना जा सकता है। इस रूप में एक ओर मनु ने अराजकतावादियों के अनावश्यक तथा अनुपयोगी राज्य को आवश्यक बुराई मानने वाले व्यक्तिवादियों के विचारों का भी एक तरह से विरोध किया साथ ही मनु का राज्य हीगल, फासिस्टवादी तथा सर्वसत्ताधिकारवादी की भाँति साध्य भी नहीं है। वस्तुतः मनु का राज्य अनिवार्य तथा आवश्यक होते हुए भी जनकल्याण का मार्ग प्रशस्त करने वाली उपयोगी संस्था है। इस तरह मनु के राज्य का उद्देश्य मानव जीवन के मुख्य उद्देश्य के साथ एकाकार

1- मनु०8/308, अरक्षितारं राजानं बलिष्ठाभागहारिणम् ।

तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥

2- मनु० : 7/127, 7/129-139

3- घोषाल, यू.एन.ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन पॉलिटिकल आइडियाज, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1959.

4- सेलटोर, बी.ए. : एशिएन्ट इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्युशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1963.

5- सरकार, बी.के. : द पॉलिटिकल इन्स्टीच्युशन्स एण्ड थियरीज ऑफ हिन्दुजम, वरलाना बेन मार्केट एण्ड पीटर्स, लिपजिंग, 1922.

है। अतः स्पष्ट है कि धर्म नियंत्रित राज्य का मूल उद्देश्य व कर्तव्य प्रजाहित-चिन्तन था। यद्यपि राज्य की उत्पत्ति का सैद्धान्तिक पक्ष दैवी शक्ति एवं असीम सत्ता का परिचायक है परन्तु व्यावहारिक जगत में वह प्रजा के प्राण एवं सम्पत्ति के रक्षक तथा राजनीतिक स्तर पर होने वाले संघर्षों के समाधान का एक आवश्यक साधन है कारण कि मनुस्मृति में राज्य एवं उससे विकसित राजनीति का रूप नवीन व वर्तमान संदर्भ में प्रस्तुत हुआ जान पड़ता है।

राजा -

प्राचीन भारतीय राज्यों की शासन-व्यवस्था मुख्यतः राजतंत्रात्मक मानी जाती है जिसमें 'स्वामी' के रूप में राजा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थों में स्वामी के अर्थ में राजा का प्रयोग किया गया है। 'राजा' शब्द संस्कृत के 'राजन' शब्द का ही रूप है जो राज और अन् प्रत्यय से मिलकर बनने के कारण तेज से चमकना, दीप्त होना, प्रकाशमान होना आदि अर्थों का द्योतक है। अतः राजा वह है जो तेज, चमकने एवं दिव्य गुण धारण किये होने के कारण सर्वत्र यश व्याप्त हो।

के.पी. जायसवाल ने लिखा है कि 'राजन्' शब्द अपने मूल रूप 'राट' से ही बना है जो शासक के अर्थ में लैटिन भाषा के 'रैक्स' Rex शब्द के साथ सम्बन्ध रखता है परन्तु हिन्दू राजनीतिक चिन्तकों ने इसकी एक दार्शनिक व्युत्पत्ति बतलायी है। इस रूप में 'राजा' का अर्थ अच्छे शासन के द्वारा अपनी प्रजा का रंजन अथवा उसे प्रसन्न रखना है।'

प्रजा के रंजन करने के अर्थ में राजा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अर्थर्ववेद में देखा जा सकता है। इसमें कहा गया है कि- जो स्वयं विशेष प्रभावशाली तथा पराक्रमी होता है तथा जो प्रजा-जन को दूध आदि उपयोग के पदार्थ देता है वह ही समस्त प्रजा का अधिपति होता है। आगे कहा गया है कि मनुष्यों में वीर्यवान और सामर्थ्यवान पुरुष व दूसरों का अधिष्ठाता बनकर विराट आसन पर बैठा हो² पुनश्च कहा जाता है कि प्रजा का मित्र बनकर राज्य कर, प्रजा की पुकार श्रवण कर, प्रजा की इच्छा का आदर कर, समुद्र तक बहने वाली नहर चला और उससे कृषि की सहायता कर। जो प्रजा का रंजन करने लगा वह 'राजा' कहलाने लगा।³ महाभारत में 'रज्ज' धातु से राजा की निष्पत्ति मानी गयी है, जिसका अर्थ है रंजन करना या प्रसन्न करना है, अर्थात् वही राजा है जो प्रजा को प्रसन्न

1- जायसवाल, के.पी. : हिन्दू राजतंत्र, दूसरा भाग (अनुवादक रामचन्द्र वर्मा), नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, सं0- 2034ए पृ0-1 (प्रकरण-22)

2- अर्थर्ववेद, 4/8/1; 12/3/1

3- वही, 2/5/4-6, 15/8

व सुखी रखता है।¹ कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है कि नीतिशास्त्र के अनुसार कार्य करने वाला राजा होता है।² मनुस्मृति में 'राजा' शब्द का प्रयोग स्वामी के अर्थ के रूप में किया गया है। इस रूप में शास्त्रानुसार वेद को प्रात्यन् अभिषिक्त क्षत्रिय, न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करने वाले को राजा की संज्ञा दी गयी है।³

प्राचीन भारतीय राज्य के उच्चतम अवयव के रूप में 'राजा' की उपर्युक्त व्याख्या में चार अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं - प्रजापालक मनुष्य, क्षत्रिय जाति, अभिषिक्त क्षत्रिय एवं प्रशक्त व्यक्ति। मीमांसा दर्शन में "राजा राजसयेन स्व राज्य कामोंयजेत" इस वैदिक विधि में प्रयुक्त राजा शब्द के विवेचन में इन्हीं चार अर्थ के सम्मिलित रूप को बतलाया गया है।⁴ इसी अर्थ में राजा की व्याख्या कुल्लूक भट्ठे ने मनु के रूप में की है।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा शब्द का अर्थ चिन्तकों ने उसके व्यापक एवं सर्वश्रेष्ठ रूप में लिया। इस रूप में मनु की उपलब्धि यह मानी जा सकती है कि इन्होने राजन् शब्द की व्युत्पत्ति एवं प्रयोग में प्रजानुरंजन के रूप में लोकतंत्री भावना को आत्मसात् किया ताकि इस आधार पर भी राजा स्वेच्छाचारी होने का दावा न कर सकें।

सामान्य तौर पर देखा जाये तो मनुस्मृति तक दैवी-सिद्धान्त का पूर्ण विकास हो जाता है। मनु राजतंत्र के दैवी स्वरूप का चित्रण अपने पूर्व दैवी तत्त्वों के विकसित रूप में करते हैं। मनु ने राजतंत्र के दैवी-स्वरूप का चित्रण कुछ विशेष परिस्थितियों (जैसे- जब सभी भयाकुल हो इधर-उधर दौड़ने लगे और विश्व में कोई स्वामी नहीं था तब विधाता ने इस विश्व की रक्षा के लिये प्रजा का प्रणयन किया। मनु इसी से मत्स्य न्याय की ओर संकेत करते हैं।⁵) के कारण हुआ ऐसा पी.वी.काणे का मत है।⁶

मनुस्मृति में राजा का निर्माण ईश्वर ने किया है। इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि,

1- महाराणा प्रताप, 59/125, 57/11

2- नीतिशास्त्रानुगो राजा : चाणक्य प्रणीत, सूत्र 48 (उदयवीर शास्त्री)

3- मनु 7/2 ब्राह्म प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।

सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥

4- निरूक्त, (यास्कृत निरूक्तम्) व्याख्या सहित, 2/3/3, बम्बई, सं 1986

5- मनु 7/3 अराजके हि लोकेऽस्मिन्स्वर्तो विद्रुते भयात्।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥

6- पी.वी.काणे, पूर्ववर्ती, भाग-2, पृ०- 586

वरुण, चन्द्रमा एवं कुबेर का सारभूत नित्य अंश लेकर राजा की सृष्टि की गयी है।¹ अतः राजा मनुष्य ही है ऐसा मानकर बालक राजा का भी अपमान वर्जित है। वही राजा के रूप में पृथ्वी का सबसे बड़ा देवता है।² परन्तु राजा के विभिन्न देवताओं के अंश से निर्मित होने का आशय यह है कि राजा में देवताओं जैसी शक्तियाँ स्वभावतः निहित हैं अर्थात् राजा में विभिन्न दैवी-गुण नितान्त अपेक्षित हैं। राजा को इससे ईश्वर का अवतार नहीं माना जा सकता है। मनु राजा को मनुष्य के रूप में विवेचित करते हैं।

जिस प्रकार इन्द्र श्रावण आदि चार मासों में जल बरसाते हैं उसी प्रकार इन्द्र के व्रत का आचरण करता हुआ राजा अपने राज्य में प्रजा की इच्छा पूर्ण करें। जिस प्रकार सूर्य अगहन आदि आठ मासों में किरणों द्वारा जल को हरण कर लेते हैं उसी प्रकार राजा प्रजा से कर वसूले यही राजा का ‘सूर्य व्रत’ है। जिस प्रकार वायु सब प्राणियों में प्रवेश कर विचरण करता है, उसी प्रकार राजा को गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश करना चाहिए यह राजा का ‘वायु व्रत’ है।

जिस प्रकार यमराज समय आने पर प्रिय एवं अप्रिय सबको मारते हैं, उसी प्रकार राजा समय आने पर प्रिय-अप्रिय सब प्रजाओं को दंडित करें। यह राजा का ‘यम व्रत’ है। जिस प्रकार बंधन के योग्य मनुष्य वरुण के पाश से बंधा हुआ ही दिखता है उसी प्रकार राजा पापियों का निग्रह करे। यह राजा का ‘वरुण व्रत’ है। जिस प्रकार परिपूर्ण चन्द्रमा को देखकर मनुष्य हर्षित होते हैं उसी प्रकार आमात्य आदि प्रकृति जिस राजा को देखकर हर्षित हों वह राजा ‘चान्द्रवर्तिक’ है। ‘आग्नेय व्रत’ के अन्तर्गत राजा अग्नि के समान (प्रचण्ड तेज) दुष्टों का बध करें। पृथ्वी जिस प्रकार सब प्राणियों से समान भाव रखती है उसी प्रकार राजा प्रजा-पालन करते हुए सबको समान देखें।³

स्पष्ट है कि मनुस्मृति में राजा तभी देवता है जब वह देवताओं सदृश्य कार्यों का निर्वाह करता है। राजा में दैवी तत्त्व उसको शक्ति, गौरव एवं सामान्य व्यक्ति से ऊँची स्थिति प्रदान करने के लिये है। मनु ने कहा है कि राजा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम व महेन्द्र रूप है।⁴ यह रूप राजा कार्यसिद्धि हेतु, प्रयोजन के अनुसार कार्य एवं शक्ति पर विचार कर

1- मनु० 7/4 इन्द्रानिलयमार्काण्डामग्नेच्च वरुणस्य च ।

चन्द्रवित्तेशयोच्चैव मात्रा निर्हत्य शश्वतीः ॥

2- मनु० 7/8 बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

3- मनु० : 9/304 - 311

4- मनु० 7/7 सोऽग्निर्भवति वायुच्छ्र सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥

बार-बार धारण करता है¹ तात्पर्य यह है कि राजा को आवश्यकतानुसार विभिन्न शक्ति क्षमताओं का आश्रय लेना चाहिए। मोटवानी का विचार है कि मनु दैवी गुण सम्पन्न राजा का व्यक्तित्व नहीं धर्म रूप में विधि राज्य का वास्तविक संप्रभु है। अतः मनु राजा के देवत्व पर जोर देते हैं लेकिन दैवी अधिकार पर नहीं।²

इन अर्थों में देखा जाय तो मनु का राजा राज्य में उन संघर्षों के निवारण का स्वतःसाधक है जो मानवीय व राजनीतिक प्रशासन के स्तर पर उभरते हैं। साथ ही मनु राजा के गुणों में पवित्र, सत्यवादी, शास्त्रानुरागी, शरणागत-पालक, बुद्धिमान तथा दण्ड देने की सामर्थ्य की महत्ता देकर इस संघर्ष निवारक तर्कों को और दृढ़ता प्रदान करते हैं।³

राजा के गुणों में विस्तार करते हुए मनु आगे कहते हैं कि राजा को आत्मसंचयी होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि आत्मसंचयी और जितेन्द्रिय राजा ही सम्पूर्ण प्रजा को अपने अधीन रख सकता है तथा शत्रुओं को जीत सकता है।⁴

मनु राजा की इस आत्मसंचयिता में क्षमाशीलता को उसका प्रमुख गुण मानते हैं।⁵ राजतंत्रात्मक व्यवस्था में राजा सम्पूर्ण शासन व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु है। शासन की सफलता एवं प्रजा का कल्याण उसी के व्यक्तित्व पर निर्भर होती है। अतः राजा के लिये आवश्यक गुणों की चर्चा कर मनु राजनीतिक संघर्षों को राजा के द्वारा समाधान करने हेतु उस ‘देव-तुल्य’ बना देते हैं जिसका निर्णय सभी को मान्य हो, इसलिये मनु कहते हैं कि उद्घमी राजा से ही राज्य की सम्यक् उन्नति संभव है।⁶

प्राचीन काल से ही भारत एक धर्म-प्रधान राष्ट्र रहा। मानव जीवन का हर पक्ष धर्म से प्रभावित था। राजतंत्रात्मक सत्ता में मनु ने जहाँ एक ओर राजा को राज्य का सर्वोच्च

1- मनु० 7/10 कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ।
 कुरुते धर्मसिद्धार्थं विश्वरूपं पुन पुनः ॥

2- Motwani Kewal, Manu Dharmashastra, Ganesh Prakasan, Madras. 1958, P. 137

3- मनु० 7/31-

4- मनु० 7/44

5- मनु० 8/312 क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिप्तां कार्यिणां नृणाम् ।
 बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥

मनु० 8/313 यः क्षिप्तां मर्षयत्यार्तेस्तेन स्वर्गं महीयते।
 यस्त्वैश्वर्यान्नं क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥

6- मनु० 9/300 , 9/301 आरमेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
 कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रोनिषेवते ॥

अधिकारी माना है वहीं दूसरी ओर इसे धर्म के अधीन स्वीकार किया है। प्रशासन के बाह्य स्वरूप से राजा की सर्वोच्चता का आभास दिलाते हैं तथा सभी कार्यकारी शक्तियों का संचालक राजा को बनाते हैं।¹

वैदिक काल से राजा की शक्ति में वृद्धि होती रही है। जैसे-जैसे राज्य के स्वरूप का विकास होता गया उसी गुणात्मक अनुपात में उसकी शक्ति का विकास भी होता गया। मनु का राजा राज्य की संप्रभुता शक्ति का प्रतीक बन गया। अतः मनु राजा के विस्तृत अधिकारों एवं कर्तव्यों का विवेचन करते हैं।

राजा सम्पूर्ण राज्य प्रशासन की चालक शक्ति है। सामाजिक सुरक्षा के दृष्टिकोण से उसकी उत्पत्ति होती है और इसी में वह कार्यपालिका, न्यायपालिका, प्राशासनिक एवं सैनिक प्रधान तक बन जाता है परन्तु राजा की स्वेच्छाचारिता को रोकने हेतु मनु राजा को विधायिका की शक्ति नहीं देते हैं। उसे विधि का अधिकार न देकर क्रियान्वयन के शीर्ष पर रखा है। राजा अपनी विकसित शक्ति का प्रयोग उस विधि के आधार पर करता है जिसका स्रोत वह स्वयं नहीं है।

कार्य पालिका संबंधी अधिकार -

कार्यपालिका के अन्तर्गत वे सभी तत्त्व शामिल होते हैं जो राज्य सरकार का कार्य सम्पन्न करते हैं। कार्यपालिका का मुख्य कार्य विधि में जन-इच्छा को लागू करना, नीतियों का प्रशासन एवं न्यायपालिका के निर्णय को लागू करना है। कार्यपालिका नीतियों की रचना करती एवं उन्हें क्रियान्वित करती है। समाज में विधि एवं व्यवस्था की स्थापना विदेशी आक्रमण से राज्य की सुरक्षा, पर-राष्ट्र संबंध बनाना, वाणिज्य विकास करना, अपराधी को दण्ड देना, उसके दण्ड को मानवीय आधार पर बदलना या क्षमा करना इत्यादि। इसके अन्य कार्य हैं। साथ ही आधुनिक युग में कार्यपालिका द्वारा आर्थिक क्षेत्र में किये जाने वाले कार्य महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। जैसे - नियोजन नीति के द्वारा सामाजिक व आर्थिक विकास लाना, आर्थिक कार्यों का नियमन, आर्थिक सुधारों की सम्पन्नता आदि। साथ ही वह प्रशासन के लिये भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति, सेवा मुक्ति इत्यादि जैसे कार्यों को सम्पन्न करती है।

उक्त सन्दर्भ में मनु ने राजा के ऊपर लागू करने से स्पष्ट है कि राजा ही कार्यपालिका का एकमात्र अधिष्ठान है। वह राज्य व समाज को नेतृत्व प्रदान करता है। विधि एवं व्यवस्था को बनाये रखता है। विधि के माध्यम से जनमत का समर्थन प्राप्त कर अपने

1- आचंयगार, के.बी.आर., कृत्यकान्यतरु, (राजधर्म काण्ड), प्रस्तावना, पृ0-89

नीतियों को क्रियान्वित करने का उद्यम करता है। प्रशासन में नियुक्ति एवं विदेशी संबंध स्थापित करता है। युद्ध एवं शान्ति के प्रश्न को हल करने में अपनी सशक्त भूमिका प्रस्तुत करता है। व्यक्ति, समाज व राज्य के आर्थिक विकास में निर्देशन करता है। स्पष्ट है कि कार्यपालिका के शक्ति रूप में राजा वास्तविक है। उसका प्रयोग भी उसी के द्वारा होता है।

मनु ने राजा की कार्यपालिका शक्ति के अन्तर्गत दो मुख्य पहलू माने हैं- राज्य की सुरक्षा और सुरक्षा के क्रम में दण्ड की व्यवस्था। सुरक्षा एवं दण्ड एक दूसरे से संबंद्ध हैं। मनु राज्य को सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मानते हैं एवं दण्ड इस उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम है। फलतः राजा दण्ड के प्रयोग में समाज से निरपेक्ष न होकर उसके सहयोग से अपराध पर नियंत्रण करता है।¹ स्पष्ट है कि अपनी इस शक्ति के रूप में राजा समाज में विधि एवं व्यवस्था कायम रखता है। राजतंत्र के स्थायित्व के लिये राजा आपराधिक तत्वों का उन्मूलन कर आंतरिक शान्ति व सुरक्षा की स्थापना करता है। इसी से सामाजिक न्याय की स्थापना होने लगती है। यह सामाजिक न्याय स्वतः ही संघर्ष-निवारक तत्व बन जाता है।

मनु ने सामाजिक अपराधों का विश्लेषण किया है। देश, जाति या व्यक्ति को मानसिक कष्ट पहुँचाने के उद्देश्य से अपशब्द प्रयोग तक वर्जित है। वह दण्डनीय अपराध है।² मनु ने प्रकाश्य एवं अप्रकाश्य की व्याख्या की है उसमें धार्मिक सामाजिक व राजनीतिक तीनों श्रेणी के अपराधी जा जाते हैं। इन अपराधों के उन्मूलन में मनु राजा को व्यक्ति की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता के क्षेत्र में एक हद तक हस्तक्षेप का अधिकार देते हैं।

प्राशासनिक अधिकार -

कार्यपालिका होने से मनुस्मृति में राजा प्रशासन का अध्यक्ष है। सम्पूर्ण प्राशासनिक ढाँचा उस पर आधारित है। प्राशासनिक क्रिया-कलाप राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी वर्ग करता है। फलतः प्रशासन संबंधी सारी नियुक्तियाँ करने का अधिकार राजा को है।

प्रशासन के अध्यक्ष के रूप में राजा सर्वप्रथम अपने मनोनुकूल मंत्री परिषद् गठित करता है। बिना मंत्री परिषद् के राजा राज्य के कार्यों को सम्पन्न नहीं कर सकता। इस संबंध में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं राजनीति संबंधी सभी ग्रंथ एकमत हैं। स्वयं ही प्रशासन के

1- मनु० : 9/256-61

2- मनु०9/266-267, एवंविधान्तृपो देशानुलमैः स्थावरजगड़मैः ।

तस्करप्रातिषेधार्थं चारैच्छाप्यनुचारयेत् ॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।

विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥

कार्यों को करने वाले राजा को मनु मूर्ख मानते हैं।¹ कौटिल्य भी मंत्रियों की नियुक्ति व उनके सलाह पर राजा को कार्य करने को कहते हैं।² याज्ञवल्क्य का मत है कि राजा, ज्ञानी, वंश, परम्परागत धैर्यबान एवं पवित्र मन वाले व्यक्तियों को मंत्री नियुक्त करें। उनके साथ राज्य के क्रिया-कलापों पर विचार कर तदनुसार अपना कार्य करें।³ मनु का मत है कि एक व्यक्ति के लिये सहज कार्य भी कठिन है। अतः राजा को बड़े राज्य के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों के संपादन में सहायकों की आवश्यकता होती है।⁴ इसलिये मनु राजा को अपने सहायक के रूप में मंत्रियों या सचिवों की नियुक्ति का अधिकार देते हैं।⁵ मनु सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों में शक्ति का केन्द्र राजा को मानते हैं। मंत्रियों की स्थिति यह है कि एक तरफ राजा को सलाह देते हैं एवं दूसरी तरफ उसके निर्देशों का पालन प्राशासनिक आवश्यकतानुसार करते हैं।

मनु राजा को मंत्रियों के अलावा अन्य प्राशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार देते हैं।⁶ इस संबंध में मनुस्मृति के मुख्य टीकाकार कुल्लूक भट्ट अन्य प्राशासनिक व्यक्तियों को 'कर्म सचिव' के रूप में उद्घृत करते हैं।⁷ मनु ने विभागों के बटवारें में मनमानी नहीं वरन् योग्यता स्वीकार किया है। राज्य के अन्य विभागीय कार्यों के सम्पादन हेतु राजा जितने चाहें उतने सचिवों की नियुक्ति कर सकता है।⁸

परराष्ट्र संबंध के निर्धारण में दूतों का प्रमुख स्थान है। दूतों की नियुक्ति राजा

- 1- मनु०,7/30, सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥
- 2- कौ० अर्थ, 1/7
- 3- याज्ञ०,1/312, स मंत्रिणः प्रकुर्वीत प्रजान्मौलान्स्थिरान्शुचीन ।
तैः सार्धं विन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततः स्वयम् ॥
- 4- मनु०,7/55, अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किं तु राज्यं महोदयम् ॥
- 5- मनु०,7/54 मौलाङ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोभ्दवान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥
- 6- मनु०, 7/60
- 7- मनु० 7/60 पर कुल्लूक भट्ट, अन्यान्पि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सभ्यगथसमाहर्तृनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥
- 8- मनु०7/61, निर्वर्तेतास्य यावभिदरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्त्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥

द्वारा होती है। विशेष अवसर पर विशेष दूतों की नियुक्ति का राजा को अधिकार है।¹ मनु ने स्वीकार किया कि दूत राजा के लिये अति आवश्यक हैं। दूतों की नियुक्ति करके राजा दूसरे देशों से संधियाँ करने एवं विदेशी राज्यों के नियुक्त दूतों का स्वागत करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसके साथ ही मनु राजा को विभिन्न अध्यक्षों की नियुक्ति का अधिकार दिया है। उनका मत है कि राजा, सैनिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं विदेशी विभागों के कार्यों के संचालन हेतु विभिन्न प्रकार के अध्यक्षों की नियुक्ति करें जो अपने विभागों के कार्यों का निरीक्षण करें।²

मनु ग्राम को प्रशासन की सबसे छोटी इकाई मानते हैं। ग्राम से लेकर केन्द्र तक का प्रशासन राजा के प्रत्यक्ष नियंत्रण में होता है। अतः मनु राजा को 'ग्रामाधिकारी' या ग्रामाधिकारी के नियुक्ति का अधिकार देते हैं।³ नगर व्यवस्था के लिये मनु राजा को विभिन्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार देते हैं।⁴ साथ ही मनु राज्य के आध्यात्मिक कल्याण एवं धार्मिक कार्यों के संचालन हेतु राजा पुरोहित की नियुक्ति करता है।⁵

विधायन संबंधी कार्य व अधिकार -

विधायिका विधि का निर्माण करती है। विधि के माध्यम से क्रियान्वयन के लिये राज्य की नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं। ज्यों-ज्यों राज्य का कार्य क्षेत्र बढ़ता जाता है विधायिका की विधि निर्माण शक्तियाँ भी बढ़ती जाती हैं। आधुनिक युग में विधायिका का क्षेत्र काफी विस्तृत है। इसमें विधायिका संवैधानिक कार्य, वित्तीय व्यवस्था पर नियंत्रण, निर्वाचन संबंधी कार्य, प्राशासनिक व्यवस्था पर नियंत्रण, विदेशी संबंधों पर नियंत्रण न्यायिक कार्य तथा राज्य व्यवस्था में जनता का प्रतिनिधित्व करती है।

-
- 1- मनु०,7/63, दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इडिगताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोभ्दवम् ॥
 - 2- मनु०,7/81, अध्यक्षाच्चिविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपच्छ्रितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्तृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥
 - 3- मनु० : 7/114-115
 - 4- मनु०,7/121, नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥
 - 5- मनु०,7/78, पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्तिवजः ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥

उक्त सन्दर्भ में प्राचीन भारत में विधायिका का रूप भिन्न है। राजा या कोई राजनैतिक समिति न तो विधि बनाती है न बनाने के अधिकार का दावा करती है। विधि धार्मिक एवं लौकिक दोनों श्रेणी की होती है। धार्मिक विधि के स्रोत श्रृति, स्मृतिशास्त्र एवं लौकिक प्रथायें एवं रीति-रिवाज हैं। परम्परागत विधि या नियमों में परिवर्तन की कोशिश करने पर राजा का अस्तित्व असंभव है। परम्परागत रिवाज धार्मिक नियमों की भाँति समाज के लिये आवश्यक हैं। मनु का कहना है कि राजा, जाति, धर्म, देश-धर्म, श्रेणी-धर्म एवं कुल-धर्म के अनुसार अपने कार्यों का सम्पादन करे।¹ अतः स्पष्ट है कि मनु ने राजा को स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार नहीं दिया है।² इस दृष्टिकोण से मनु राजा को धर्मशास्त्रों के नीति में बाँध देते हैं।³ इनको विश्लेषित किया जाय तो स्पष्ट है कि मनु के राजा का अधिकार विधायिका की अपेक्षा न्यायिक अधिक है।

न्यायिक अधिकार -

मनुस्मृति में राजा के न्यायिक अधिकार के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार प्रस्तुत किया गया है। राज्य में न्याय की समुचित व्यवस्था उसकी प्रगति का द्योतक है। प्रजा के स्वत्व की रक्षा करने वाले विधान संस्कृति के मापदण्ड होते हैं। मनु के विचारों के महत्व का कारण उसकी न्याय तथा विधि संबंधी प्रगतिशील विचारधारा है। मनु राजतंत्र का समर्थन करते हैं। चूँकि इनका राजतंत्र शक्ति विभाजन सिद्धान्त के प्रतिकूल है। अतः राजा के पास अन्य अधिकारों के साथ न्यायिक अधिकार भी रहते हैं। राजा इस शक्ति के कारण न्याय का स्रोत है।⁴ राजा निर्मित-विधि के माध्यम से ही न्याय करता है, परन्तु राजा अदण्डय है। वह दण्डित न हो जाये। जो दण्ड्य है, वह मुक्त न हो जाये। इसका ध्यान रखता है।⁵ इस प्रकार की घटना घटित हो जाए तो राजा के साथ मंत्री, पुरोहित तथा पूरा न्यायिक प्रशासन उत्तरदायी होता है और दण्ड का प्रायश्चित् करता है।⁶ मनु का राजा ग्रामिक, विंशी, विंशती, शती,

1- मनु०,८/४१० जातिजानपदान्धर्माज्ञेणीधर्माच्छ्र धर्मवित् ।

समीक्ष्य कुलधर्माच्छ्र स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥

2- मनु० : ८/८

3- मनु०, त्वावग्निहोत्र व्यवस्थाएँ वर्णाश्रमिणां राजप्रभवति स्मृत्यन्तर विरोध।

प्रसंगात अविरोधेन चस्मिन विषये वचनस्यार्थ वत्तवाद ॥ 7/13 पर मेधातिथि

4- पी.बी.काणे, पूर्व उद्घृत, पृ०- 703

5- मनु०,८/१२८, अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्डयांश्चैवाप्यदण्डयन् ।

अवशो महदाप्रोति नरकं चैव गच्छति ॥

6- वशिष्ठ, 19/40-45

सहस्पति आदि न्यायिक अधिकारी जो ग्राम स्तर के हैं उनको नियुक्त करने का अधिकारी है।¹ मनु केवल ग्राम दोषों का उल्लेख करते हैं। इन ग्राम-दोषों में सभी प्रकार के दोषों को समाहित कर देते हैं। ऋणदान, सीमा-विवाद, स्वामिपाल, विवाद आदि। निष्कर्ष यह है कि इन प्रशासकीय पदाधिकारियों को ग्राम की शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने हेतु सभी प्रकार के विषयों को ग्रहण करने का अधिकार है, जिनसे ग्राम का सौम्य वातावरण दूषित न होने पाये। इन अर्थों में भी राजा प्राथमिक स्तर के सभी संघर्षों को ग्राम स्तर पर या तो समाप्त कर देता है या न्यूनतम कर उसके समाधान की कोशिश करता है।

फलतः प्राथमिक स्तर पर उभरने वाले संघर्षों को मनु ने राजा के विस्तृत अधिकारों एवं विकेन्द्रीकृत व्यवस्था के द्वारा समाधान की पहल करते हैं जिसकी प्रासंगिकता वर्तमान में काफी बढ़ जाती है।

मनु के राजा के न्यायिक अधिकार का जिस रूप में विकास होता है वह दो विशेषताओं को स्पष्ट करता है -प्रथम, राजा को विधि शास्त्र मर्मज्ञों², समाज के विभिन्न घटकों के प्रतिनिधियों³ तथा सभा के सम्पर्क में रहना अनिवार्य हो गया। दूसरे, स्थायी न्यायाधीशों एवं विभिन्न प्रकार के न्यायालयों का संगठन आवश्यक माना गया। इनके साथ राजा का संबंध इस प्रकार का हो गया कि उनकी प्रामाणिकता एवं वैधता राजा के हाथ आ गई, किन्तु राजा उसका संगठन अपने मनोनुकूल नहीं कर सकता है। वह शाश्वत् संविधान, सामाजिक प्रतिनिधियों, धर्मशास्त्र-मर्मज्ञों के अनुसार कार्यान्वयन के प्रधान के रूप में प्रस्तुत रहा।

आर्थिक शक्ति व अधिकार -

मनु राजा के आर्थिक अधिकारों का व्यापक विश्लेषण करते हैं। आर्थिक समृद्धि राज्य का आधार है। अर्थ-शक्ति के अभाव में न तो राज्य की सर्वविधि उन्नति हो सकती है न ही व्यक्ति एवं समाज की ही उन्नति हो सकती है। राज्य के सप्तांग सिद्धान्त के अन्तर्गत कोष को राज्य के घटकों में महत्वपूर्ण स्थान देकर मनु ने अर्थशक्ति की अनिवार्यता का आभास कराया। मनु का मत

1- मनु०, ७/115

2- मनु०, ८/१-२, व्यवहारान्दृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।

मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम्॥

तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।

विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्॥

3- कात्यायन, श्लोक 58 (काणे) सम्पादन

है कि कोष एवं राज्य राजा के अधीन हैं।¹ मनु कोष वृद्धि के लिये राजा को कर लगाने का अधिकार प्रदान करते हैं। मनु इसके लिये 'बलि' शब्द का प्रयोग करते हैं। ऋग्वेद में भी 'बलि' शब्द का उल्लेख है।² बलि कर में अन्न, पान, ईंधन आदि का उल्लेख मनु करते हैं। यह मुख्य रूप से ग्रामवासियों से प्राप्त कर है। राजा इसमें उपज का छठाँ भाग ग्रहण करता है।³

'शुल्क' राजा के आर्थिक अधिकार के रूप में एक महत्वपूर्ण कर है। शुल्क राजकोष की वृद्धि का साधन है।⁴ आधुनिक युग में शुल्क को चुंगी का रूप दिया जा सकता है।

मनु क्रय-विक्रय, रक्षा संबंधी व्यय तथा व्यापारी के भरण-पोषण आदि को ध्यान में रखकर राजा शुल्क निर्धारण की शर्त रखते हैं।⁵ शुक्र ने लाभ का 32वाँ, 16वाँ, या 20वाँ भाग शुल्क के रूप में निर्धारित किया है।⁶

मनु 'संतरण कर' का अधिकार राजा को देते हैं। इसमें पुल पर ले जाने वाली गाड़ी पर एक पण, भारयुक्त मनुष्य पर आधा पण, गाय-बैल आदि पशुओं तथा स्त्री पर एक चौथाई पण, एवं भार रहित मनुष्य पर एक पण का आठवाँ भाग संतरण कर के रूप में राजा निश्चित करते हैं।⁷ मनु का मत है कि राजा पशु-व्यापारी पर भी कर लगाये और यह उसके लाभ का 25 वाँ भाग ग्रहण करे।⁸

मनु स्मृति में दण्ड आर्थिक तथा शारीरिक दोनों रूपों में प्रस्तुत है।⁹ आर्थिक दण्ड राजा की आर्थिक शक्ति का आधार है। मनु लोभ के लिये 1000 पण, मोह में झूठ

- 1- मनु०,7/65, अमात्ये दण्ड आयन्तो दण्डे वैनियिकी क्रिया।

नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥

- 2- ऋ० 7/1/5, 7/6/5, 10/173/1

- 3- मनु० 8/308

- 4- मनु०,8/307, योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।

- 5- मनु०,8/398, शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।

कुयुरदं यथापल्यं ततो विशं नृपो हरेत् ॥

- 6- शुक्र, 4/2/9, 210

- 7- मनु०,8/404, पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे।

पादं पशुश्च योषिच्च पादार्थं रिक्तकः पुमान् ॥

- 8- मनु०,7/130, पञ्चाशभ्दाग आदेयो राजा पशुहिरण्ययोः।

धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥

- 9- मनु०, 8/125

बोलने वालों को सहस्र दण्ड, भय से साक्ष्य प्रस्तुत करने वाले को मध्यम एवं मैत्री में साक्ष्य देने वाले को चार गुना दण्ड की व्यवस्था करते हैं।¹

मनु अपने इन आर्थिक कर सिद्धान्त में चार सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं - पहला, कर की दर इतनी अल्प मात्रा में लगायी जाए, जिसे प्रजा को उसका किंचित बोध न हो सके। कर की मात्रा में वृद्धि शनैः शनैः होनी चाहिये।² दूसरा, राजा कर ग्रहण का अधिकारी उसी दशा में है, जब वह प्रजा-रक्षण में समर्थ है। जो राजा रक्षण न करते हुए भी प्रजा से कर ग्रहण करता है वह राज्य एवं प्रजा के नेतृत्व के योग्य नहीं है। तीसरा, मनु के अनुसार लाभ पर कर, विक्रय, मार्ग-व्यय, भरण-पोषण एवं रक्षादि व्यय तथा उसके निर्वाह संबंधी व्ययों के अनुपात में लगाना चाहिये।³ चौथा, मनु अधिक कर लगाये जाने का विरोध करते हैं। इनका मत है कि प्रजा से अधिक कर ग्रहण करने से राजा एवं प्रजा दोनों का नाश होता है।

मनु करों का समुचित संतुलन व स्थिति के अनुसार निर्धारित कर, राज्य के आर्थिक संघर्षों को अपने प्राशासनिक सिद्धान्तों द्वारा समाप्त करते हैं या इन कारकों द्वारा उपजने वाले संघर्षों को रोकने का प्रयास करते हैं। मनु राजा के इन अधिकारों को उसके उत्तरदायित्व के साथ जोड़कर राजा को संघर्ष समाधान का प्रधान-तत्व बना देते हैं।

राजा का उत्तरदायित्व -

मनु के मतानुसार राजा का परम दायित्व प्रजा पालन है। प्रजा से निर्दिष्ट फल भोगने के कारण राजा प्रजा रक्षा में अपने धर्म से सम्बद्ध है।⁴ शान्ति पर्व में कहा गया है कि मनु सहित सात राजशास्त्र प्रणेताओं में प्रजा-रक्षण राजा का सबसे बड़ा दायित्व माना है।⁵ प्रजा को राज्य के बड़े अधिकारियों के आतंक, चोरों, शत्रुओं, राजबल्लभों एवं स्वयं अपने लोभ से बचाना राजा का महत्वपूर्ण दायित्व है। मनु ने इन पाँच प्रकार के भय को विभिन्न स्थानों पर उल्लेखित करते हैं। राजा विद्यार्थियों, विद्वानों एवं याज्ञिकों का पालन करता है।⁶ मनु

1- मनु०, 8/2/9

2- मनु०, 8/2/9

3- मनु०, 7/127, क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।

योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य विणिजो दापयेत्करान् ॥

4- मनु०, 7/44

5- शां० पर्व, 58/1-4

6- मनु०, 7/82, 7/136, 7/134

ब्राह्मणों की रक्षा का विशेष दायित्व राजा पर सौंपते हैं।¹ मनु द्वारा किया गया राजा के दायित्व का विवेचन चार दायित्व स्पष्ट करता है - प्रजा का रक्षण, वर्णश्रिंग-धर्म नियम का पालन, दुष्टों को दण्ड देना तथा न्याय करना।

मनु स्मृति में राजा की शक्ति एवं दायित्वों का उत्तरोत्तर विकास है। फलतः उसे व्यापक अधिकार और कर्तव्य प्राप्त हो जाते हैं लेकिन सदैव वह समाज, राज्य एवं विधि से शासित एवं उसके प्रति उत्तरदायी है। मनु ऐसे किसी विचार का समर्थन नहीं करते जिससे राजा को अबाध सत्ता प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होता हो। मनु के अनुसार वही राजा आदर्श है जिसका उद्देश्य समाज एवं व्यक्ति की सेवा करना है। राजा का पूरा अस्तित्व रक्त पर निर्भर है। फलतः मनु ने राज्य में राजा को व्यक्ति के निम्न स्तर से उच्च स्तर तक विकास के उद्देश्य में दृष्टिगत कर संघर्ष समाधान की दिशा में राजा को अग्रसरित करते हैं।

मनु राज्य, राजा के कर्तव्यों के साथ प्रजा के उत्तरदायित्व व कर्तव्यों का उल्लेख करते हैं। कारण कि राज्य व्यक्ति के जान-माल की रक्षा तथा अभ्युदय की व्यवस्था करता है। अतः वह भी प्रजा से आशा रखता है कि वह उसके नियमों व कानूनों का पालन करके शासन में पूर्ण सहयोग दे जिससे मतभेदों अथवा उपेक्षा के आधार पर संघर्ष न पनप सकें।

मनु ने प्रजा के कर्तव्यों पर बहुत अधिक बल दिया है। संकट काल में प्रजा राज्य की प्राशासनिक व्यवस्था की सहायता करे। प्रजा राजा द्वारा बनाये गये नियमों का पालन समुचित ढंग से करे। मनु राज्य और प्रजा दोनों को एक ही शरीर का अंग माना है। दोनों के परस्पर सहयोग से राज्य की उन्नति तथा संघर्ष से विनाश अश्वयम्भावी है। राज्य अपने कार्यों द्वारा प्रजा की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति का प्रयत्न करता है। इसकी सफलता तभी संभव है जब प्रजा उसका पूर्ण सहयोग करे तथा अपने कर्तव्यों का पालन करें।

प्रजा के राज्य के प्रति अनेक कर्तव्य हैं। चूंकि राज्य ही प्रजा को अराजकता से बचाने का एक मात्र साधन है इसलिए प्रजा का धर्म है कि उसका पूरा समर्थन करे और उसके नियमों का पालन करे। मनु कहते हैं यदि राजदण्ड का भय न हो तो सभी लोग कर्तव्यच्युत हो जाएंगे। यही कारण है कि सभी अपने कर्तव्य में दक्ष हैं। धर्म पालन के लिये राजा व राजदण्ड अत्यन्त आवश्यक हैं। प्रजा का अंतिम दायित्व शासन संस्था की ओर है। दूसरी कोई भी संस्था उस दायित्व में अंशभागी न थी। मनु प्रजा को अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत करते हुए कहते हैं कि कु-शासन तथा कर्तव्य की अवहेलना करने पर राजा को सिंहासन से उतारने और वध करने का अधिकार व कर्तव्य भी प्रजा को है।

विधि नियम की दैवी मान्यता है और राज्य उन्हें कार्यान्वित करता था इसलिए

भी राज्य के अनुशासन में रहना प्रजा का कर्तव्य है।

अंततः मनु कहते हैं कि चूँकि राज्य प्रजा की नैतिक, आर्थिक और सांस्कृति उन्नति की कोशिश करने में यत्नशील रहता है इसलिए प्रजा को भी चाहिए कि वह अपने राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करके राज्य का मार्ग सुगम बनाये।

विकेन्द्रीकृत प्रशासन -

केन्द्रीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण प्राचीन काल से ही रहा है। विशाल साम्राज्यों का प्रशासनिक संचालन एकमात्र केन्द्र से होना असंभव था। अतः विशाल साम्राज्यों के अस्तित्व में आने के साथ ही केन्द्रीय सत्ता के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया भी प्रचलन में आ गयी तभी से यह विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया अनवरत रूप से प्रशासनिक क्षेत्र में चली आ रही है।

अभिसंखीय साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि धर्मशास्त्र काल के समकालीन राजवंशों के प्रशासन में यह पद्धति व्याप्त थी। इसके लिये कुषाण वंश, गुप्त वंश तथा अन्य परवर्ती कालीन राजवंशों के प्रशासन का अवलोकन किया जा सकता है। इस अवधि के विकेन्द्रीकरण में प्रान्त, नगर, गाँव प्रशासन को इकाई के रूप में देखा जा सकता है।

प्राचीन काल से ही भारत के ग्राम प्रशासन की धूरी रहे हैं। इनका ऐसे युग में महत्व और अधिक हो जाता है जब यातायात के साधन मंदगामी थे और कारखानों या यंत्रों का नाम भी न था। प्राचीन भारत के जीवन में नगरों का स्थान नगण्य था। वैदिक मंत्रों में ग्रामों की समृद्धि की प्रार्थना बहुत की गयी है पर नगरों या पुरों का शायद ही नाम लिया हो।¹ वैदिक काल में राज्य छोटे-छोटे थे इससे भी ग्रामों का महत्व बढ़ जाता है। राज्यों के विस्तार के बाद भी स्थिति पूर्वक्त रही। कारण बहुजन समाज प्रायः ग्राम निवासी होने के कारण ग्रामों का ही सर्वोपरि महत्व देना स्वाभाविक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ग्राम ही देश के महत्वपूर्ण अंग और सामाजिक जीवन के केन्द्र थे।

मनु ने अपने विकेन्द्रीकृत इकाईयों की आवश्यकता पर बल दिया है। मनु अपने ग्राम शासन में एक ग्राम, दस ग्राम, सौ ग्राम और एक हजार ग्रामों के पृथक-पृथक संगठनों की व्यवस्था की है। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम है। ग्राम का अधिकारी 'ग्रामिक' है। जबकि इसा सन् के प्रारम्भिक सदी में अन्य ग्रन्थों में 'ग्रामिक' या 'ग्रामयक' तथा तेलंग देश में 'ग्रामकूट'² (गावुन्द) कर्नाटक में 'पट्टकील' युक्तप्रान्त में 'महत्तक'³ कहा गया है।

1- ऋ०, 1/114/1, 1/44/10

2- एपि० ई०, 9, पृ०- 58

3- राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ०- 189

मनु की ग्राम व्यवस्था में एक ग्राम के लिये एक ही मुखिया रहता था जिसका प्रमुख कार्य ग्राम की व्यवस्था को बनाये रखना था। मुखिया का प्रमुख कर्तव्य ग्राम की रक्षा करना था वह ग्राम के स्वयं-सेवक दल और पहरेदारों का नायक था। सेवादल वे थे जो आततायियों से ग्राम की सुरक्षा करते थे। ग्रामिक का दूसरा कर्तव्य था सरकारी कर उगाहना। जरूरी लेखपत्र उसी के संरक्षण में रहते थे। यह ग्राम-पंचायत की मदद से कर वसूली का काम करता था। मुखिया ग्राम-पंचायत का पदसिद्ध अध्यक्ष भी था और ग्राम संबंधी प्रश्नों पर विचार व कार्यवाही उसी के निर्देशन में होती थी। मनु की ग्राम-संस्था सार्वजनिक प्रमोद-जनक और उपयोगी कार्यों की व्यवस्था करती थी। तीसरा, इसका कर्तव्य आपसी झगड़ों का निपटारा था और नाबालिगों की संपत्ति का संरक्षण भी, क्योंकि ग्राम के स्तर पर उभरने वाले संघर्षों को ग्राम-पंचायत ही निपटाते थे विफल होने पर मामला केन्द्रीय सत्ता तक जाता था। वैसे तो गम्भीर अपराध स्वतः पंचायत की अधिकार सीमा के बाहर थे क्योंकि प्राणदण्ड आदि कड़े दण्ड की आवश्यकता पड़ती थी जो इसके अधिकार क्षेत्र के बाहर थे परन्तु मनु ग्रामिक को अधिकार देते हैं कि हजारों ‘पण’ की सम्पत्ति के संघर्ष समाधान करे। जिससे ग्राम की आय हो सकें।

सार्वजनिक हित की योजनाएं कार्यान्वित करना, कूप, सरोवर, अनाथालय, रूग्णालय आदि की स्थापना इसका कार्य था।

मनु के विचारों को विश्लेषित किया जाय तो स्पष्ट है कि ग्राम की शान्ति व व्यवस्था का दायित्व पंचायत पर है।¹ प्रत्येक ग्राम का अधिकारी अपने नीचे के अधिकारियों के माध्यम से प्रशासन का संचालन करता है।² ग्राम अधिकारियों का वेतन उनकी स्थिति एवं योग्यता के आधार पर है।

सम्पूर्ण अवलोकन से स्पष्ट है कि ग्राम के ऊपर केन्द्रीय सरकार को साधारण निरीक्षण व नियंत्रण का अधिकार था।³ ग्राम-प्रबन्ध की पूरी जिम्मेदारी ग्राम सभा पर थी। यह ग्राम की रक्षा का प्रबन्ध स्वयं करती थी, राज्य कर एकत्र करता था, और अपने कर भी

1- मनु०,7/115, ग्रामस्याधिपति कुर्याद्विशग्रामपतिं तथा।

विंशतीश शतेशं च स्वहस्त्रपतिमेव च ॥

2- मनु०,7/116-117, ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।

शंसेद्वामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ।

विंशतीशस्तु तत्संव शतेशाय निवेदयेत् ।

शंसेद्वामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥

3- अल्टेकर, अ०: प्रांचीन भारतीय शासन-पद्धति, भारती भण्डार, 1959, इलाहाबाद, पृ०- 182-83

उगाहती थी, गाँव वाले के संघर्षों का फैसला करती थी, सार्वजनिक ऋण देकर अकाल और अन्य संकटों का निवारण करती थी, पाठशालाएँ, अनाथालय आदि चलाती थी और देवालयों द्वारा विविध धार्मिक, सांस्कृतिक कार्यों की व्यवस्था करती थी। इसमें कोई संदेह नहीं की आधुनिक काल में हिन्दुस्तान व यूरोप-अमेरिका में ग्राम पंचायतों को जो अधिकार प्राप्त हैं - उनसे कहीं अधिक मनु अपनी ग्रामीण व्यवस्था को देते हैं। ग्रामवासियों के अभ्युदय और उनकी सर्वांगीण भौतिक, नैतिक तथा धार्मिक उन्नति के साधन में इनका भाग महत्वपूर्ण है।

मनु अपने पूरे राजनीतिक दर्शन को धर्म से संबंधित रखते हैं। ग्राम भी इससे अलग नहीं हैं। मनु का लक्ष्य पूर्णतः राजनीतिक न होकर इससे परे आध्यात्मिक एवं परलौकिक भी है। अपने उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए मनु ने कहा है कि -

तस्य कर्माविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।

स्वायंभुवो मनुर्धीमनिदं शास्त्रमकल्पयता ॥¹

अर्थात् सर्वशास्त्र ज्ञाता स्वयम्भुव मनु ने चारों वर्णों को अपने-अपने कर्तव्य का बोध कराने हेतु इस शास्त्र की रचना की। आगे कहते हैं कि इस शास्त्र की रचना इसलिए की गयी ताकि लोग सुख-शान्ति के वातावरण में भौतिक ऐश्वर्य के साथ-साथ पारलौकिक आनन्द (मोक्ष) भी प्राप्त कर सकें।² आध्यात्मिक दृष्टि से मनुस्मृति की रचना का परम लक्ष्य मानव को मोक्ष प्राप्त करना ही बताया गया।³ यही कारण है कि मनुस्मृति 'मानव-धर्मशास्त्र' के रूप में प्रतिष्ठित है।

मनुस्मृति का आधार अत्यन्त व्यापक है। प्रत्येक शब्द वैदिक परम्परा एवं संस्कृति को समेटे हुए है। सत्य है, मनु में सीमित क्षेत्र की राजनीति, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था एवं सामन्तवादी युग के प्रारम्भ का रूप पाया जाता है। इस युग में विभिन्न समुदायों, संगठनों एवं सम्प्रदायों के मूलाधिकार निजी विधि पर आधारित है। इस सन्दर्भ में राज्य हस्तक्षेप करने वाली संस्था नहीं रह पाती बल्कि विभिन्न स्तरों पर संघर्षों में निर्णायक की भूमिका निभाती है।

1- मनु०, 1/102

2- मनु०, 12/83

3- मनु०, 2/5, तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।

यथा संकल्पितांच्छ्रेह सर्वान्कामान्समश्रुते ॥

निष्कर्ष -

मनु द्वारा प्रणीत नीति-प्रधान ग्रन्थ मनुस्मृति में जिस राजनीतिक व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है वह एक आदर्शोन्मुखी व्यावहारिक व्यवस्था की विवेचना है जिसके विषय क्षेत्र में मानव तथा समग्र सृष्टि के मध्य के अन्तर्सम्बन्धों को नये सिरे से परिभाषित करना है जिससे परम्परागत मान्यताओं और संबंधों के परिवेश में परिवर्तन आ जाने से राज्य, समाज में उत्पन्न बाधायें समाप्त हो सकें। अव्यवस्था और क्तिपय संघर्षों का जन्म हो रहा था, उस स्थिति के निराकरण का मार्ग मनु अपने राजनीतिक व्यवस्था से समाज, राज्य की स्वाभाविक गतिशीलता को बनाये रख कर प्रशस्त करते हैं।

मनु ने धर्म का स्थान सर्वो परि रखते हुए भी धर्म को व्यापक चिन्तन का आधार माना। इनके चिन्तन का क्षेत्र सर्वांगीण है। व्यक्ति से लेकर राज्य के लिये अभ्युत्थान के लिये कर्तव्य निर्धारित किये गए हैं। राज्य, राजा, प्रशासन, प्रजा का कर्तव्य हेतु स्वस्थ राजनीतिक मार्ग का सांगोपांग विवेचन किया गया है। मनु के राज्य का लक्ष्य सामाजिक, राजनैतिक व मानवीय मूल्यों को बनाए रखना है। नैसर्गिक व ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में राज्य, राजा अस्तित्व में आया। यह एक अपरिहार्य संस्था एवं उक्त संस्था का संरक्षक है जिसके बिना सौहार्दपूर्ण जीवन संभव नहीं है। स्पष्ट कहा जा सकता है कि “सर्व-कल्याण इसके अस्तित्व एवं सत्ता के लिये कारण है। निर्भरता का वरदान देने का उच्च आदर्श राज्य ने कायम किया।”

राज्य के सम्प्रभु (राजा) का अस्तित्व प्रजा के नैतिक मूल्यों के मार्गदर्शक एवं परामर्शदाता के रूप में मनु स्वीकारते हैं। धर्मपरायणता एवं दया को राजा द्वारा प्रोत्साहित किया गया है। राजा असीम शक्तियों का धारक होने के बावजूद लोकतांत्रिक बना रहा। जिसका अस्तित्व सिर्फ प्रजा का अनुरंजन करना है। धार्मिक अनुशासियों एवं नैतिक दबाव के अन्तर्गत राजा का कर्तव्य परम्पराओं, प्रथाओं को स्वीकृत, निर्धारित तथा मर्यादित कानून के अन्तर्गत प्रजा का संरक्षण, सुरक्षा व अनुरंजन है। मनु जिस धर्म-प्रधान व्यवस्था का निरूपण करते हैं उसको सुसंचालन के लिये जिस दण्ड की व्यवस्था करते हैं उसका धारक राजा है और इसके क्रियान्वयन का यंत्र राज्य है जो अनुकूल वातावरण का निर्माण करते हैं।

वस्तुतः आधुनिक काल की किसी राजनीतिक व्यवस्था में जिस प्रकार के वैचारिक, सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक संघर्ष दिखायी देते हैं वैसे संघर्षों का मनु के काल में अभाव रहा क्यों कि उस समय कर्तव्य निर्धारक मूल्यों को लेकर किसी भी प्रकार के विवाद व मतान्तर की संभावना को मनुस्मृति काल में दृढ़ता से नकारा गया है। व्यवस्था,

समाज व मानव जीवन के निर्धारक तथ्यों के संबंध में इनमें कही मतभेद की संभावना नहीं रहती क्यों कि जीवन में प्राप्त हो सकने वाले विविध यथा विधा (त्रयी), ज्ञान, पुरुषार्थ और कर्म का एक ही लक्ष्य निर्धारित किया गया है जो भौतिक जीवन के अनुशासन और पराभौतिक जीवन में श्रेष्ठ दशा की प्राप्ति को मार्ग का निर्धारण करता है।

इस परिप्रेक्ष्य में मनु के समग्र राजनीतिक व्यवस्था की विवेचना करें तो यह स्पष्ट होता है कि राज्य न तो व्यक्तियों के अधिकार मात्र की सुरक्षा के लिये अस्तित्व में आया न ही वर्ग हित का साधन है और न ही आदिम समाज से क्रमिक विकसित हुआ है अपितु यह एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अस्तित्व में आया जो व्यक्ति व वर्ग निरपेक्ष हो जिसमें संघर्षों का कोई स्थान न रहें।

स्पष्टतः: मनु अपने चिन्तन में व्यक्ति के समग्र जीवन के राजनीतिक एवं अन्य पक्षों के बीच अन्तर होने से उत्पन्न हो सकने वाले संघर्षों के प्रति सचेत दिखायी देते हैं जैसा कि वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राज्य और व्यक्ति के बीच दूरी बढ़ती जा रही है। विशेष तौर पर शासन के प्रतिनिधात्मक स्वरूप में व्यक्ति की श्रेष्ठता के नाम पर उसकी संस्थाओं की स्थापना के कारण शासक वर्ग के उदय ने नागरिकों को राजनीतिक व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप की गतिशीलता से सजग कर दिया है। अतः आधुनिक राज्य में व्यक्ति समाज की इकाई भले ही हो लेकिन वह ऐसी इकाई के रूप में प्रत्यक्ष होता है जो किसी भी शर्त पर अपने हितों की पूर्ति के लिये सदैव संलग्न और संघर्षशील रहता है जबकि मनु इस प्रकार के संघर्षों को न उपजने देते हुए अपने चिन्तन में एक सामान्य सूत्र 'धर्म' का प्रतिपादन करते हैं जिसका पालन सुनिश्चित करना सभी राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्थाओं का कर्तव्य है जिसके लिये मनु ने कुछ उन्मुक्तियाँ प्रदान की हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में मनु की तमाम विवेचना से स्पष्ट है कि इनके चिन्तन में समस्त रा. व्यवस्था संरचना के केन्द्रीय तत्व को लेकर न तो किसी प्रकार का मतभेद है न ही संघर्षों को स्थान है। चूंकि राजा का कर्तव्य है कि वह धर्मानुकूल होकर धर्म की स्थापना सुनिश्चित करें। अतः अन्य क्षेत्रों में अथवा मानवीय प्रकृति के कारण समाज की मूल मान्यताओं एवं व्यक्ति के आचरण से परे उत्पन्न होने वाले संघर्षों के नियमन की शक्ति राजा में निहित की गयी है इसलिये मनु के चिन्तन में राज्य, राजा एक शक्तिशाली संस्था के रूप में सामने आता है ताकि वह संभावित संघर्षों का समाधान सफलता पूर्वक कर सके। अतः यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि "मनु के चिन्तन में राजनीतिक संघर्षों के समाधान का सिद्धान्त, केन्द्रीय तत्व है।"